



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2023; 9(6): 98-103

© 2023 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 25-09-2023

Accepted: 29-10-2023

अरुणकुमार चौबे

शोधच्छात्र, संस्कृतविभाग,
गणपतसहायस्नाकोत्तर
महाविद्यालय, (सम्बद्ध), डॉ०
राममनोहरलोहिया
अवधविश्वविद्यालय, अयोध्या,
उत्तर प्रदेश, भारत

Corresponding Author:

अरुणकुमार चौबे

शोधच्छात्र, संस्कृतविभाग,
गणपतसहायस्नाकोत्तर
महाविद्यालय, (सम्बद्ध) डॉ०
राममनोहरलोहिया
अवधविश्वविद्यालय, अयोध्या,
उत्तर प्रदेश, भारत

काव्यशास्त्रियों की दृष्टिकोण में अलौकिक रस

अरुणकुमार चौबे

सारांश

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने जहाँ अलौकिक रस के भेद प्रभेद किये हैं वहीं रस की एक मात्रता को भी स्थान दिया है। इस कल्पना का आधार भी प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ हैं। जिसमें कहीं असंख्य देवी-देवताओं की कल्पना की गई है तो कहीं ब्रह्म एक ही है जैसे दार्शनिक तथ्य स्वीकार किये गये हैं। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो यह तथ्य सामने आता है कि जीवन में सुख-दुःख की सम्मिश्रित अनुभूतियाँ होती हैं और उन्हें मात्र सुखात्मक या दुःखात्मक नहीं कह सकते और रस की एकमात्रता तो समग्र रसानुभूतियों को एक अखण्ड अनुभूति मानने पर होगी, जो सम्भव नहीं है।

पुनरपि इस परिप्रेक्ष्य में आचार्य मम्मट के विचार से रस की विगलितवेद्यान्तर भाव अर्थात् निर्विकल्पक स्वरूप¹ को सदा ध्यान में रखा जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से मूल रस परिकल्पना का महत्त्व चाहे न हो लेकिन रसशास्त्रियों की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विषय की महत्ता को ध्यान में रखते हुए इसका अध्ययन आवश्यक है। रस की अलौकिकता के संदर्भ में नवरसों का संस्कृत साहित्य के काव्यों महाकाव्यों में भी उपलब्ध रसों का प्रसंगानुकूल अध्ययन प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में किया जाएगा।

कूटशब्द: काव्यशास्त्र, नदीकेश्वर, साहित्यिक-प्रस्थान, रस-प्रस्थान, अलंकार-प्रस्थान, रसानन्द, विगलितवेद्यान्तर, ब्रह्मानन्दसहोदर, नाट्यशास्त्र, अथर्ववेद, रसस्वरूप, सहृदय, रसानुभूति, आत्मानन्द, षड्-रस, रस भेद।

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृत में रस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है- “रस्यते आस्वाद्यते इति रसः” अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाए वही रस है अथवा “रसते इति रसः” अर्थात् जो बहे वह रस है। इस प्रकार रस की दो विशेषताएँ लक्षित होती हैं- आस्वाद्यत्व और द्रवत्व। हमारे आदि ग्रंथ वेद, उपनिषद् और पुराणों में “रस” शब्द का प्रयोग व्यावहारिक जीवन के लिए मिलता है काव्यानन्द के अर्थ में नहीं। तैत्तिरीयोपनिषद् की मान्यता है कि वह अर्थात् ‘ब्रह्म’ निश्चय ही रस है और जो उस रस को प्राप्त करे उसे आनन्द की अनुभूति होती है।² उपर्युक्त सभी प्रयोगों से स्पष्ट है कि रस का मूल अर्थ कदाचित् द्रवरूप वनस्पति-सार ही था। यह द्रव निश्चय ही आस्वाद-विशिष्ट होता था अतएव “आस्वाद” रूप में भी इसका अर्थ-विकास स्वतः ही हो गया। यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है।

सोम नामक औषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यों को विशेष प्रिय था, अतः सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग और भी वशिष्ट हो गया। इसलिए सोमरस के संसर्ग से रस की अर्थ-परिधि में क्रमशः शक्ति, मद और अंत में आह्लाद का समावेश हो गया। आह्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया। वह जीवन के आह्लाद से आत्मा के आह्लाद में परिणत हो गया और वैदिक युग में ही आत्मानंद का वाचक बन गया।³

भरत का अधिकांश रस विवेचन नाट्य पर आधृत है और नाट्य का लक्षण निर्देश करते हुए उन्होंने नाटक की अन्तिम संधि 'निर्वहण सन्धि' में अलौकिक रस की नियोजना स्वीकार करने का परामर्श दिया है। "निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतैः॥" यद्यपि यह नहीं कहा कि अलौकिक ही मूल रस हो लेकिन नाटक के अन्त में अलौकिक रस हो, इससे इतना तो सङ्केत मिलता है कि भरतमुनि को मूल रस इष्ट था।⁴ रस को एकमात्र मानने का सिद्धांत किसी प्रकार से भी निराश्रित नहीं है क्योंकि रस की एकमात्रता मानने वाले आचार्यों में भवभूति, अभिनवगुप्त, महाराजा भोज एवं विश्वनाथ के प्रपितामह श्रीनारायण पण्डित हैं, जिन्होंने क्रमशः, करुण, शान्त, शृङ्गार एवं अलौकिक रस को मूल रस माना है। ऐतिहासिक दृष्टि से मूलरस परिकल्पना का प्रयास सर्वप्रथम भवभूति ने किया उन्होंने करुण रस को ही सब रसों का मूल माना है। उन्होंने अपने इस विचार को 'उत्तररामचरित' नाटक में तमसा पान के माध्यम से इस प्रकार से रखा है-

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्,
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुदबुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥⁵

अर्थात् करुण रस ही निमित्तभेद से भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। जैसे आवर्त बुदबुद एवं तरङ्ग का रूप धारण करने के बाद भी जल ही रहता है। ऐसा कहते हुए भवभूति ने करुणरसमय एकमात्र रस को अभिव्यक्त किया है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त रस को नव रस मानते हुए उसे ही मूल रस माना है और उसके प्रतिपादन में भरत को उद्धृत किया है।⁶ यद्यपि वह नाट्यशास्त्र का प्रक्षिप्तांश भी कहा गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्तरस को मूल रस मानने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं- मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष होता है और शान्त रस चित्त को समस्त लौकिक विषयों से परे कर मोक्ष की ओर ले जाता है इसीलिए जो सभी रसों के रसत्व का आधार है- 'आत्मानन्द' वही इस शान्त का स्थायिभाव है, इस आत्मज्ञान स्थायी के

समक्ष अन्य रत्यादिभाव, व्यभिचारी भाव होते हैं। ये रत्यादिभाव किस प्रकार व्यभिचारित्व को प्राप्त होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि- समस्त वस्तुओं के विषय में विकारों को देखकर विकृत दर्शनजन्य हास्य रस का स्थायिभाव हास शान्त रस को उत्पन्न करता है। वास्तव में रस का प्रमुख आधारशिला तो भारत मुनि का यह रस सूत्र- "विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्ति" है। रस सिद्धांत बहुत पुराना होते हुए भी उक्त रस के विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप अत्यंत विस्तार को प्राप्त किया है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार तो रस का विस्तार व्यापक है।⁷ रस का सार चमत्कार है। किसी काव्य अथवा नाट्य के श्रवण अथवा दर्शन से सहृदय का विस्तृत हो जाता है। यह चित्त विस्तृति ही चमत्कार है और यह चमत्कार ही अलौकिक रस का स्वरूप है। समस्त रसों के अनुभावों में विस्मय का अनुभव होता है। इसलिए अलौकिक को ही मस्त शृङ्गारादि रसों की प्रवृत्ति कहा जाना भी युक्तियुक्त है। चित्त की द्रुति और दीप्ति के रूप में रसास्वाद का जो विश्लेषण है, उसमें भी चित्तविस्तृत अथवा विस्मय के अनुप्राण का विश्लेषण किया जा सकता है। शृङ्गार, करुण आदि में चित्त द्रुति और वीर रौद्र आदि में चित्त दीप्ति वस्तुतः चमत्कार का ही स्वरूप है अथवा विस्मय का ही स्वभाव परिस्पन्द है। सभी रसों के आस्वाद में विस्मय के इस अनुप्राणन के कारण कवि नारायण पण्डित ने अलौकिक रस को समस्त रसों में अनुप्रविष्ट, समस्त रसों में अन्तर्व्याप्त, समस्त रसों का अन्तर्नियामक और समस्त रसों का सार कहा है।

नारायण पण्डित के इस मत से प्रभावित होकर अलङ्कारिक आचार्य भानुदत्त ने भी अलौकिक को प्रधान रस माना है। उनका कहना है कि जहाँ विस्मय प्रधान रूप से भासित हो वहाँ तो अलौकिक रस होता है किन्तु शृङ्गारादि रसों में भी चमत्कारयुक्त, चित्त विस्तृत रूप यह विस्मय अङ्गरूप में भासित होता है अर्थात् सभी रसों में इसकी प्रधानता रहती है। आचार्य विश्वनाथ ने तो रसमय वाक्य को ही काव्य कहा है- "रसात्मक वाक्यं काव्यम्"⁸ इस प्रकार कहा जा सकता है कि आचार्य विश्वनाथ के मत में आनंदमय रस तत्त्व ही सम्पूर्ण काव्य रचना में प्रधान वस्तु है इसलिए वह अलौकिक भी है वह किसी सहृदय को ही प्राप्त हो सकता है। काव्यप्रकाशकार रस को अलौकिक आनंद कहते हैं- 'चर्व्यमाणस्यालौकिकानंदमस्य'⁹

करुण को मूल रस मानने वाले भवभूति ने भी अलौकिक रस का महत्त्व स्वीकार किया है। 'उत्तररामचरित' के सातवें अङ्क में उन्होंने स्थान- स्थान पर इसका प्रयोग किया है। नारायण के उपर्युक्त सिद्धान्त का विरोध 'रसप्रदीपकार' प्रभाकर भट्ट ने किया है। उनके अनुसार प्रत्येक रस का आस्वाद विलक्षणता पर आधृत है।

यद्यपि यह कहा जाता है कि चमत्कार का आस्वाद अलौकिक सहित प्रत्येक रस में होता है और उसे ही बाद में रति आदि कहते हैं। रति के विभावों के कारण निरन्तर उसकी उपस्थिति होती रहती है। तो ऐसे विस्मय की स्थिति को हम 'रति अलौकिक' कह सकते हैं। यदि विस्मय न होता तो उसके आस्वाद का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि यह तर्क दिया जाय कि यह अलौकिक रस अलग से सब रस भेदों द्वारा उत्पन्न होता है तो होने दीजिए वह रस नहीं हो सकता उसे अलौकिक चमत्कार आदि कह सकते हैं। इस चमत्कार को अलौकिक कहने में न तो कोई प्राप्ति होती है और न तो कोई हानि।

प्रभाकर भट्ट का यह सिद्धान्त प्रमुखतः शोक में अलौकिक रस की स्थिति न मानने पर आधृत है। रसस्वाद चित्त संवाद है और चित्त संवाद को चमत्कार कहते हैं, किन्तु यह चित्त संवाद सदैव नित्य विस्तारात्मक नहीं होता। वीभत्स में चित्त विक्षोभ शृङ्गार एवं करुण में चित्त द्रुति होती है। ये चित्त द्रुति रौद, वीभत्स, भयानक और अलौकिक में नहीं होती और इस तरह से करुण रस में अलौकिक रस की स्थिति उचित नहीं है।

नारायण पण्डित के इस मत से प्रभावित होकर अलङ्कारिक आचार्य भानुदत्त ने भी अलौकिक को प्रधान रस माना है। उनका कहना है कि जहाँ विस्मय प्रधान रूप से भासित हो वहाँ तो अलौकिक रस होता है किन्तु शृङ्गारादि रसों में भी चमत्कारयुक्त, चित्त विस्तृत रूप यह विस्मय अङ्गरूप में भासित होता है अर्थात् सभी रसों में इसकी प्रधानता रहती है।¹⁰ करुण को मूल रस मानने वाले भवभूति ने भी अलौकिक रस का महत्त्व स्वीकार किया है। 'उत्तररामचरित' के छठें व सातवें अङ्क में उन्होंने स्थान-स्थान पर इसका प्रयोग किया है।¹¹ नारायण के उपर्युक्त सिद्धान्त का विरोध 'रस प्रदीपकार' प्रभाकर भट्ट ने किया है। उनके अनुसार प्रत्येक रस का आस्वाद विलक्षणता पर आधृत है।

यद्यपि यह कहा जाता है कि चमत्कार का आस्वाद अलौकिक सहित प्रत्येक रस में होता है और उसे ही बाद में रति आदि कहते हैं। रति के विभावों के कारण निरन्तर उसकी उपस्थिति होती रहती है। तो ऐसे विस्मय की स्थिति को हम 'रति अलौकिक' कह सकते हैं। यदि विस्मय न होता तो उसके आस्वाद का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि यह तर्क दिया जाय कि यह अलौकिक रस अलग से सब रस भेदों द्वारा उत्पन्न होता है तो होने दीजिए वह रस नहीं हो सकता उसे अलौकिक चमत्कार आदि कह सकते हैं। इस चमत्कार को अलौकिक कहने में न तो कोई प्राप्ति होती है और न तो कोई हानि। प्रभाकर भट्ट का यह सिद्धान्त प्रमुखतः शोक में अलौकिक रस की स्थिति न मानने पर

आधृत है। रसस्वाद चित्त संवाद है और चित्त संवाद को चमत्कार कहते हैं, किन्तु यह चित्त संवाद सदैव नित्य विस्तारात्मक नहीं होता। वीभत्स में चित्त विक्षोभ शृङ्गार एवं करुण में चित्त द्रुति होती है। ये चित्त द्रुति रौद, वीभत्स, भयानक और अलौकिक में नहीं होती और इस तरह से करुण रस में अलौकिक रस की स्थिति उचित नहीं है।

नारायण पण्डित का उपर्युक्त सिद्धान्त अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की विचार श्रृंखला की एक कड़ी है। किसी भी विचार को पुष्ट कर धरातल पर स्थापित करने का प्रयास पूर्व से ही होता है किन्तु उसे प्रकाश में लाने का श्रेय एवं पूर्णतः स्थापित करने का श्रेय एक ही व्यक्ति को प्राप्त है अतः नारायण पण्डित का सिद्धान्त भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का आकलन कहा जाय तो अन्यथा न होगा। सबसे पहले आचार्य भरत ने अलौकिक रस को नाटक का परम अपेक्षित तत्त्व स्वीकारते हुए नाटक के अन्त में निर्वहण में रखने का परामर्श दिया है।

रस शब्द का अर्थ-विकास

रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम इतिहास में से है। सामान्य व्यवहार में इसका चार अर्थों में प्रयोग होता है -

1. पदार्थों में उपलब्ध होने वाले रस-अम्ल, तिक्त, कषाय, कटु, मधुर आदि।
2. आयुर्वेद में अभिहित रस
3. साहित्य में और इससे मिलता-जुलता रस,
4. मोक्ष या भक्ति का रस

प्राकृतिक (पार्थिव) रस में रस का अर्थ है पदार्थ (वनस्पति) आदि को निचोड़कर निकाला हुआ द्रव जिसमें किसी न किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस प्रसंग में रस का प्रयोग पदार्थ-सार और आस्वाद दोनों अर्थों में होता है। पदार्थ का सार (या सार-भूत द्रव) भी रस है और उसका आस्वाद भी रस है। आगे चलकर ये दोनों अर्थ स्वतंत्र रूप में विकसित हो गये। आयुर्वेद में रस का अर्थ है 'पारद' यह प्राकृतिक रस का ही अर्थ विकास है। यहाँ पदार्थ-सार तो अभिप्रेत है ही, किन्तु उसके साथ उसके आस्वाद का नहीं वरन् गुण (शक्ति) को ग्रहण किया जाता है। पदार्थ-रस जहाँ आस्वाद-प्रधान है, वहाँ आयुर्वेद का रस शक्ति प्रधान है। आयुर्वेद में रस का एक और अर्थ है देह-धातु- अर्थात् शरीर में अन्तर्भूत ग्रंथियों का रस जिस पर शरीर का विकास निर्भर रहता है यहाँ भी शक्ति का ही प्राधान्य है।¹² भारतीय दर्शन तो रसों की संख्या 'मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्त' ऐसा षट् स्वीकारता है।¹³ तीसरा प्रयोग है साहित्य का रस, जहाँ रस का अर्थ है - (१) काव्य-सौन्दर्य, और (२) काव्यास्वाद तथा काव्यानन्द

भी। मोक्ष-रस या आत्म-रस ब्रह्मानंद अथवा आत्मानंद का वाचक है। भक्ति-रस का अर्थ भी, सिद्धांत-भेद होने पर, भी मूलतः यही है। जिसको आचार्य मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने क्रमशः 'विगलितवेद्यान्तर ब्रह्मानन्दसहोदर' और 'रसात्मक वाक्य' कहकर प्रसस्त किया है।¹⁴

आश्चर्य और निर्वेद। ये ही स्थायी भाव परिपुष्ट होकर क्रमशः शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त रसों में परिणत हो जाते हैं।

विभाव

स्थायी भावों के उद्बोधक कारण को विभाव कहते हैं। सहृदय के हृदय में संस्कार रूप से स्थित स्थायी भाव को जागृत करने वाले कारणरूप व्यक्ति, वस्तु अथवा बाहरी विकार को विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के काम करते हैं। एक भावों को जगाते हैं, दो भावों को उद्दीप्त करते हैं। इस कारण विभाव के दो प्रकार बनते हैं। (क) आलम्बन विभाव (ख) उद्दीपन विभाव। ये रस के उपकारक होते हैं।¹⁵

अनुभाव

मनोगत भाव को व्यक्त करने वाली शारीरिक चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। अनुभाव शब्द अनुभव से बना है। "अनु" का अर्थ है पीछे आने वाला या पीछे होने वाला। सुन्दरी शकुन्तला (आलम्बन) द्वारा दुष्यन्त (आश्रय) के मन में रति (स्थायी भाव) का जगना और उद्दीपन खिला उद्यान, एकांत के द्वारा दुष्यन्त के हाथ पकड़ना, रोमांचित होना आदि शरीर के लक्षण (अनुभाव) रति का कार्यरूप फल है।

इस प्रकार आलम्बन उद्दीपनादि अपने-अपने कारणों से उत्पन्न भावों को व्यक्त करने वाली लोक में जो-जो कार्यरूप चेष्टाएँ होती हैं, वे काव्य-नाटकादि में निबद्ध होकर अनुभाव कहलाती हैं। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं। (1) कायिक (2) वाचिक (3) आहार्य (4) सात्त्विक।

व्यभिचारी

भाव हृदय में नित्य विद्यमान रहने वाले भावों को स्थायी भाव कहते हैं। कुछ भाव ऐसे भी होते हैं, जो अस्थिर, अस्थायी अर्थात् संचरणशील होते हैं। उन्हें व्यभिचारी या संचारी भाव कहते हैं। स्थायी भावों को पुष्ट करने के लिए निमित्त अथवा सहायक कारण रूप में अल्पकालिक भाव संचारी भाव कहलाते हैं। रसों के स्थायी भाव निश्चित होते हैं। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।¹⁶ जैसे- शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। परंतु संचारी के संबंध में ऐसा कोई नियम नहीं है। एक ही

संचारी भाव अनेक रसों में हो सकता है। जैसे - चिंता संचारी भाव, शृंगार, वीर, करुण और भयानक आदि अनेक रसों में पाया जाता है। संचारी भावों की संख्या तैतीस मानी गई है।¹⁷ अतः रस नौ हैं और सहृदय के हृदय में स्थायी भाव आलम्बन या उद्दीपन रूप से उद्भूत होते हैं।

उद्दीपन विभाव

उद्दीपन का शाब्दिक अर्थ है- उद्दीप्त करना, तेज करना। अर्थात् जो कारण रति आदि स्थायी भावों को उद्दीप्त करते हैं, उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। ये उद्दीप्त भी विभिन्न रसों में भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे- शृंगार रस में उद्यान, चाँदनी, षड्ऋतु आदि उद्दीपन हैं।

अनुभाव

भावोद्रेक होने पर आश्रय जो क्रियाएँ करता है, वही अनुभाव कहलाते हैं। अर्थात् जो भावों के कार्य हैं तथा जिनके द्वारा रति आदि भावों का ज्ञान होता है। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं- (1) कायिक (2) वाचिक (3) आहार्य (4) सात्त्विक।

1. कायिक : कटाक्ष आदि कृत्रिम आंगिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं।
2. वाचिक : जब भाव वाणी से प्रकट होते हैं। उन्हें वाचिक अनुभाव कहते हैं।
3. आहार्य : आरोपित या कृत्रिम वस्त्र रचना को आहार्य कहते हैं।
4. सात्त्विक : शरीर के अकृत्रिम अंग विकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं, यथा - कंप, स्वर-भंग, अश्रु आदि।

संचारी भाव

'संचरण शील अर्थात् अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं। ये भाव रस के उपयोगी होकर जल तरंग की भाँति उसमें संचरण करते हैं। इससे ये संचारी भाव कहे जाते हैं। इनका दूसरा नाम व्यभिचारी भाव है। ये संचारी भाव भी रस की तरह ही ध्वनित या व्यंजित होते हैं। इनकी संख्या तैतीस मानी गई है- निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, आलस्य, श्रम, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, स्वप्न, धृति, ब्रीडा, चपलता, हर्ष, विषाद, त्रास, आवेग, जड़ता, गर्व, औत्युक्त्य, निद्रा, अपस्मार, विबोध, अमर्श, उग्रता, अवहित्था, उन्माद, व्याधि, मति, वितर्क, मरण।¹⁸

इन्ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के चित्ताकर्षक संमजन से स्थायी भाव रस-रूप में व्यंजित होता है।

सुसंस्कृत सहृदय काव्यभावन के समय उससे तादात्म्य स्थापित कर अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति करता है। 'तत्त्वज्ञानन्तु सकलभावान्तमिति स्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वा रत्यादिकाः स्थायिचित्त्वृत्तिव्यभिचारी भावयत् निसर्गत एव सिद्ध स्थायीभावमिति।¹⁹

काव्य में रस का महत्त्व अक्षुण्ण है। रस के ही कारण एक ओर तो भावाभिव्यक्ति में कोमलता और सरसता रहती है और दूसरी ओर सहृदय के हृदय को आकाश टकराने की प्रबल क्षमता होती है। दूसरे शब्दों में, रस सहृदय-संवेग होता है, काव्य - विषय चाहे सुखात्मक हो या दुःखात्मक, वह ऐसे परिष्कृत एवं सुरुचिपूर्ण ढंग से उपस्थित होता है कि अनुभूति का स्वरूप आनन्दमय हो जाता है। यह भाव सर्व-साधारण तथा समस्त सम्बन्धित होता है। जब इस अपरिमित भाव का उन्मेष होता है, तो सुसंस्कृत सहृदय उससे तादात्म्य स्थापित कर ही लेता है तथा उसे एक विशेष तरह की आह्लादमय अनुभूति होती है। रस ही एक ऐसा आयाम है, जिसमें कवि, काव्य एवं सहृदय तीनों का महत्त्व है। कवि की विषयानुभूति उपयुक्त विशेष प्रक्रिया द्वारा ही सहज संवेद्य बन जाती है। अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सम्यक् संयोजन से स्थायी भाव रस रूप में परिणत हो जाता है।

रस के भेद

स्थायी भाव ही अपनी परिपक्वावस्था में रस है। आचार्यों ने नौ स्थायी भाव माने हैं और उन्हीं के आधार पर नव रस की कल्पना की गई है। यथा, श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त कतिपय आचार्यों ने दसवां रस "वात्सल्य" को माना है। जिसका स्थायी भाव 'वात्सल्य' है। उन आचार्यों में महाराजा भोज और आचार्य विश्वनाथ प्रभु उसी तरह प्रेयस अलंकार से भक्ति रस की उद्भावना की गई है। अब तक शान्त रस में ही भक्ति का अन्तर्भाव किया जाता रहा था। पर भक्ति के व्यापक और परिपुष्ट चित्रण एवं उनके स्वतंत्र स्वाद्यत्व को देखते हुए उसे भी एक पृथक रस मान लिया है। गौणीय सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य रूप गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रस की पृथकता का प्रबल समर्थन किया।

आचार्य रूप गोस्वामी ने भक्ति के एक प्रमुख तत्त्व "माधुर्य" के आधार पर मधुर रस की कल्पना की। 'मधुर रस' कुछ नया नहीं है। श्रृंगार रस और मधुर रस में अपूर्व साम्य है। कदाचित् इसीलिए मधुर की व्यंजना अलौकिक श्रृंगार के रूप में की जाती रही।

संयोग-वियोग की अवस्थाएँ, नख-शिख, वर्णन, अभिसार, मान-मनुहार, नायिका-भेद, षड्भूत वर्णन आदि के साथ-

साथ शेष सभी रसों की झलक इसमें मिलेगी। रसानुभूति की दिशा में भाव-विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों की अभिव्यक्ति भी दृश्यमान होगी। वीर, शान्त एवं श्रृंगार रस का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना जाता है। इस काव्य का शुभारम्भ ही एक निर्जन आश्रम के शान्त वातावरण में वीर रस से होता है। इस कृति में श्रृंगार के साथ-साथ वात्सल्य तथा निर्वेद को भी पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रथम सर्ग में ही वीर रस से सम्बन्धित भयानक, रौद्र, वीभत्स आदि रसों का परिपाक भी इसमें प्राप्त होगा। अन्य रसों के दर्शन भी इसमें यत्र-तत्र होंगे।

उद्देश्य

1. रस के विविध परिभाषाओं का स्पष्टीकरण
2. काव्यशास्त्र, दर्शन, वेद आदि में रस की अवस्थिति पर प्रकाश डालना
3. काव्यशास्त्र के षट् संप्रदायों में रस प्रमुख क्यों है?

भारतीय काव्य-शास्त्र के मुख्य सिद्धान्त रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति और रीति, वृत्ति, गुण हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रस सिद्धान्त हैं। रस ही काव्य की आत्मा माना गया है। काव्य-शास्त्रीय परम्परा में ध्वनि सिद्धान्त का भी विशेष महत्त्व है। आनन्दवर्द्धन ने तो इसकी स्थापना करते हुए इसे काव्य की आत्मा माना है। काव्य की आत्मा के संदर्भ में जिन सिद्धान्तों में विवाद रहा उनमें अलंकार सिद्धान्त का नाम भी है। आचार्य भामह ने तो अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना है। इसी दिशा में आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की है उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। काव्य की आत्मा के विवाद को एक नई दिशा आचार्य वामन ने यह कहकर दी कि काव्य में रीति का होना आवश्यक है। फिर गुण और वृत्ति पर भी आचार्यों ने बल दिया, किन्तु इन विवादों के बीच में रस को काव्य की आत्मा मान लिया गया।

आचार्य भामह अतिशयोक्ति को अलङ्कार में सबसे उत्तम मानकर उसका अर्थ लोकातिगोचर मानते हैं-लोकातिगोचर अर्थ से अलौकिक रस ही सङ्केतित है। इस प्रकार आचार्य नारायण के मत की पृष्ठभूमि पहले से तैयार थी और उन्होंने अलौकिक रस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसे सब रसों का मूल स्वीकार किया है। चमत्कार ही रस का मूल तत्त्व है। यद्यपि आज कल इसका प्रयोग इतना प्रचलित हो गया है कि प्रत्येक साधारण सी घटना को लोग चमत्कारिक कह देते हैं किन्तु रसास्वाद के पक्ष में चमत्कार अपना विशेष अर्थ रखता है। ये चमत्कार शृङ्गारादि रसों में विद्यमान रहता है और ये चमत्कार अथवा विस्मय

अलौकिक रस का प्रमुख तत्त्व है, इस दृष्टि से अलौकिक रस का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है ।

सन्दर्भ

1. काव्यप्रकाश-मम्मटाचार्य, व्याख्याकार- श्रीनिवाश शास्त्री, साहित्यभंडार प्रकाशन-मेरठ, पृ. 9-10
2. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दबल्ली। 'रसों वै सः रसचेवायं लब्धानंदी भवति'
3. ऋग्वेद, 9/65/6
4. नाट्यशास्त्र- भारतमुनि, 18/43
5. उत्तररामचारित्-भवभूति, व्याख्याकार-कपिलदेव द्विवेदी, श्लोक- 47, पृ.260
6. अभिनवभारती- काव्यप्रकाश टीका।
7. काव्यप्रकाश, व्यया.- श्रीनिवाशशास्त्री, पृ.119-22
8. साहित्यदर्पण-विश्ववानाथाचार्य, प्रथम परिच्छेद, पृ. 23
9. काव्यप्रकाश- पृ.136
10. शृङ्गारादौ चमत्कार दर्शनाद यत्र मनोविस्तृतिरङ्गतयाभासते तत्र शृङ्गारादयोः रसाः । प्राधान्येन यत्र भासते तत्र अलौकिक एवं रसः । रसतरङ्गिणी, पृ.332
11. उत्तररामचारित्-भवभूति, व्याख्याकार-कपिलदेव द्विवेदी, अंक-6, श्लोक-11 पृ. 411
12. आयुर्वेद, सुश्रुत सूत्र 1/32
13. (क) कणादसूत्र, 1/1/6 (ख) तर्कसंग्रह, व्या. राकेश शास्त्री पृ.112
14. (क) काव्यप्रकाश, पृ.8 (ख) साहित्यदर्पण, पृ.23
15. (क) काव्यप्रकाश, पृ. 141-50
16. काव्यप्रकाश, पृ.155
17. काव्यप्रकाश, पृ.155-60
18. काव्यप्रकाश, पृ. 156
19. नाट्यशास्त्र, पृ०- 336